गाती-झूमती मज़े लेती वैकल्पिक आधुनिकता

हबीब तनवीर का रंगकर्म

अमितेश कुमार
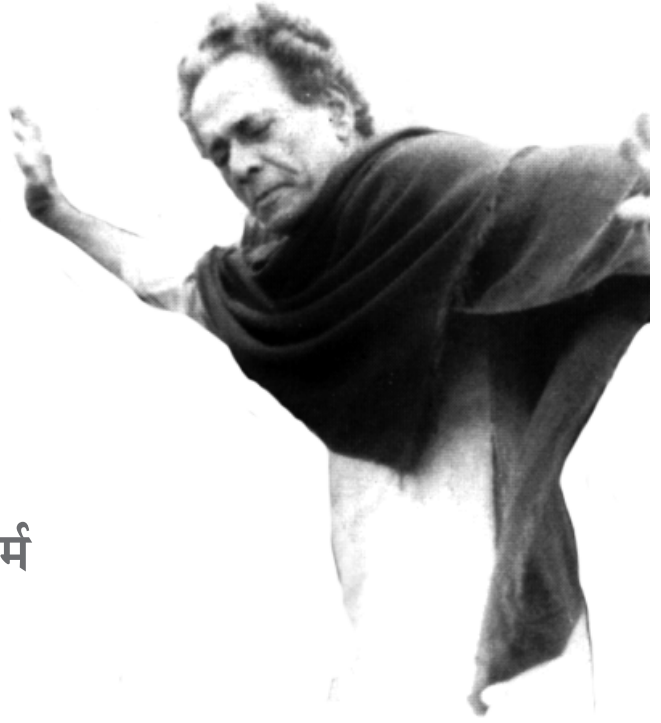
उपनिवेशित देशों के बुद्धिजीवियों और कला-माध्यमों को पश्चिम से बहुत अधिक टकराना पड़ा है। भारत में महात्मा गाँधी और रवींद्रनाथ ठाकुर आदि का चिंतन इसी टकराहट में विकसित हुआ। गाँधी ने पश्चिमी आधुनिक सभ्यता की आलोचना की। रवींद्रनाथ जब अपना रंगमंच निर्मित कर रहे थे, तब उन्हें भी पश्चिम की इस सार्वभौम आधुनिक विरासत से अलग रास्ता तलाशना पड़ा। हबीब तनवीर के रंगकर्म का भी विकास ऐसा ही है। वे पश्चिम से प्रशिक्षण लेकर आते हैं लेकिन अपना रंगकर्म अपनी ज़मीन में विकसित करते हैं । उनके रंगकर्म को कई बार लोकशैली का या पारंपरिक रंगकर्म कह दिया जाता है। हबीब इसका प्रतिवाद करते हैं कि वे आधुनिक रंगकर्म ही कर रहे हैं। इस पर्चे में हबीब तनवीर के रंगकर्म की इस आधुनिकता की पड़ताल की गयी है। पहले आधुनिकता की संक्षिप्त परिचर्चा के बाद हबीब के विचारों और रंगकर्म में प्रस्तुत होते उनके विचारों में व्याप्त आधुनिकता की प्रकृति की विवेचना है। पश्चिमी आधुनिकता के सार्वभौम से वे किस तरह और कैसे दूरी बनाते हैं और कैसे एक नये रंगमंच का निर्माण करते हैं जिसकी जड़ें औपनिवेशिक आधुनिकता से पहले की शैली से जुड़ती हैं।

> बुद्धिमान आदमी एक पैर से खड़ा रहता है, दूसरे से चलता है। यह केवल व्यक्ति-सत्य नहीं है, सामाजिक संदर्भ में भी यह सत्य है। खड़ा पैर परम्परा है, चलता पैर आधुनिकता। दोनों का पारस्परिक संबंध खोजना बहुत कठिन नहीं है। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।
>
> —हजारी प्रसाद द्विवेदी[1]

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी, (1981), *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली,* खण्ड 9, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : 359.

> उपनिवेश के कंधे पर सवार होकर हमारी आधुनिकता हमारे पास आयी। हमारी आधुनिक ख़ुदी की तलाश, अफ्रीका की तरह ही, इस भयानक तहज़ीबाती शिकस्त के बीच शुरू हुई।
>
> —आदित्य निगम[2]

आधुनिकता का प्रयोग हम आम–तौर पर वर्तमान को दर्शाने के लिए करते हैं, लेकिन आधुनिक और आधुनिकता केवल वर्तमान का बोध भर नहीं है। आधुनिकता के दर्शन ने ही पहली बार साधारण लोगों को स्वतंत्रता और स्व–शासन का सपना दिखाया था। एक विचार के तौर पर आधुनिकता का उद्‌गम यूरोपियन ज्ञानोदय है। आधुनिकता (जिसका उद्‌गम यूरोपीय ज्ञानोदय है) के दार्शनिकों को यक़ीन था कि वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ समाज और संस्कृति को बुद्धिवादी की दिशा में ले जाएँगी जिससे अंधविश्वास और पूर्वग्रह आदि से छुटकारा मिलेगा और सता के गणतांत्रिक स्वरूप की स्थापना होगी, नागरिक अधिकारों को वैधता मिलेगी, राजनीतिक इच्छा की रचना सार्वजनिक और खुली बहसों के आधार पर होगी, एक मुक्त और समान अर्थव्यवस्था सभी को समृद्धि और प्रगति का वरदान देगी। इसके ज़रिये लोग अपनी कामनाएँ पूरी करेंगे, अपने जैसी ही कामनाएँ रखने वालों के रास्ते में बाधा नहीं बनेंगे।[3] आधुनिकता के दर्शन में निहित इस मुक्तिकामी योजना के कारण ही मार्क्स ने इसे उपनिवेशित देशों के लिए सकारात्मक माना था।

कांट ने ज्ञानोदय की व्याख्या करते हुए बताया था कि यह अपरिपक्वता से परिपक्वता की ओर बढ़ने की स्थिति है जिसमें आदमी बाह्य कारकों की बजाय अपनी बुद्धि के अनुसार संचालित होगा, निजी और सार्वजनिक के बीच का अंतर करते हुए अपने व्यवहार को नियोजित करेगा। फूको ने कांट और बौदलेयर के विचारों का भाष्य करते हुए आधुनिकता को एक प्रवृत्ति करार दिया। फूको ज्ञानोदय के उस रुख पर अधिक ज़ोर देते हैं जिसके तहत वर्तमान से जिरह की प्रेरणा मिलती है।[4] कांट और फूको के बीच और उसके बाद आधुनिकता को लेकर पश्चिम में बौद्धिकों के बीच व्यापक बहस हुई है। इन बहसों से पता चलता है कि आधुनिकता कभी एकाश्म नहीं रही है। आधुनिकता नहीं, बल्कि आधुनिकताएँ रही हैं। लेकिन, दूसरी तरफ इसके यूरोकेंद्रित होने में भी कोई संदेह नहीं रहा। यह अलग बात है कि आधुनिकता का विकास–क्रम यूरोप में भी आधुनिकता के विकास की कई रेखाओं की तरफ इशारा करता है। आधुनिकता के विभिन्न संस्करण विभिन्न यूरोपीय समाजों द्वारा आधुनिकता को अपनाने और उसके प्रति अनुक्रिया की देन हैं। आधुनिकता के अंदर भी सामाजिक और सांस्कृतिक आधुनिकता जैसा विभाजन रहा है। आधुनिकता ने ही मानव को बताया है कि वह अपने इतिहास का निर्माता स्वयं है। नियंता होने की इस भावना ने ही विश्व को मानव की अदम्य सत्ता और उसके दमनकारी रूप से परिचित करवाया। हालाँकि आधुनिकता के बर्बर रूपों ने इस अवधारणा के प्रति संशय और अस्वीकार पैदा किया, पर हैबरमास इसे एक अधूरी और असमाप्त परियोजना बताते रहे जिसमें उनके अनुसार अभी सम्भावनाएँ बाक़ी थीं।[5]

आधुनिकता को कल्पित करने और उसकी शक्ल–सूरत बनाने का काम पश्चिम में हुआ। जिस समय यूरोप आधुनिकता की रचना कर रहा था, उसी समय ग़ैर–यूरोपीय मुल्कों पर उपनिवेशवाद और

---

[2] आदित्य निगम (2002), 'आधुनिकता बनाम आधुनिकता', *संधान,* खण्ड 1, अंक 4 : 7.

[3] दिलीप परमेश्वर गाँवकर (1999), 'ऑल्टरनेटिव मॉडर्निटी', *पब्लिक कल्चर,* खण्ड 11, अंक 27(1) : 7–8.

[4] आदित्य निगम, (2002).

[5] युरगन हैबरमास (1997), द *अनफिनिश्ड प्रोजेक्ट ऑव मॉडर्निटी,* एम.पी.डी. एंट्रीव्ज़ और एस. बेनहबीब (सम्पा.), एमआईटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

साम्राज्यवाद थोपने की प्रक्रिया चल रही थी। पश्चिम ने आधुनिकता को एक ऐसे सार्वभौम सिद्धांत के तौर पर प्रस्तुत किया, जिसकी उपलब्धियों को अन्य सभ्यताएँ भी अपनाकर सभ्य हो सकती थीं। दावा यह था कि आधुनिकता दुनिया के पैमाने पर पुराने सामाजिक व्यवहार को नष्ट कर एक सर्वमान्य वैश्विक व्यवहार लागू करेगी। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। साम्राज्यों ने जहाँ भी आधुनिक व्यवहारों को लागू करने की कोशिश की, वहाँ स्थानीय समाज ने अपने तरीक़े से आधुनिकता को अपनाया। इससे एकाधिक प्रकार की आधुनिकता सम्भव हुई। इसीलिए आधुनिकता का एक रूप नहीं है। स्थान, समाज और संस्कृति के तहत आधुनिकता को अपनाने के तरीके ने भी वैकल्पिक आधुनिकता को सम्भव बनाया। हाल के कुछ अध्ययन यह भी बताते हैं कि उन समाजों में, जहाँ आधुनिकता के आगमन का श्रेय पश्चिमी समाज लेते हैं, वहाँ भी आधुनिकता की देशज परम्परा विकसित हो रही थी।[6] अत: प्रत्येक जगह, हर राष्ट्रीय या सांस्कृतिक स्थान पर, आधुनिकता एक नहीं, कई है; आधुनिकता नयी नहीं है बल्कि पुरानी और पहचानी हुई है, यह अधूरी है और इसे अनिवार्यत: ऐसा होना चाहिए।[7] यही वह प्रक्रिया है जिसके तहत उत्तर-औपनिवेशिक समाजों को अपने लिए और अपनी परिस्थितियों के मुताबिक़ आधुनिकता का नक्शा तैयार करने का मौक़ा मिला।

आधुनिकता को कल्पित करने और उसकी शक्ल-सूरत बनाने का काम पश्चिम में हुआ। जिस समय यूरोप आधुनिकता की रचना कर रहा था, उसी समय ग़ैर-यूरोपीय मुल्कों पर उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद थोपने की प्रक्रिया चल रही थी।

जब हम आधुनिकता कहते हैं तो उसका मतलब परिवर्तन की कुछ प्रक्रियाओं और एक ख़ास तरह के संस्थानीकरण से है। जैसे, पूँजीवादी उद्योगीकरण, राज्य की केंद्रीयता में वृद्धि, शहरीकरण, सामाजिक वैयक्तीयन, परिवार और समाज की सरंचना में व्यापक परिवर्तन और कला-संस्कृति की अभिव्यक्तियों में परिवर्तन। आधुनिकता का भारत में आगमन अंग्रेज़ी राज्य के संरक्षण और उसके दौरान हुआ। यहाँ ठीक-ठीक वैसी आधुनिकता लाने की पहल नहीं हुई जैसी यूरोप में थी। यह स्वाभाविक ही था।[8] प्रगति, न्याय, समता, मुक्ति के आधुनिक आदर्श एक उपनिवेशित समाज के लिए स्वप्न थे। इसे पाने के लिए लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी। आधुनिकतावाद के प्रभाव में यहाँ की सभ्यता को पिछड़ा मान लिया गया। आधुनिकता के वृत्तांत में शामिल होने के लिए पश्चिमी आदर्श अपनाना अनिवार्य मान लिया गया। इसीलिए पार्थ चटर्जी लिखते हैं कि 'हमें याद रखना चाहिए कि आधुनिकता के वैश्विक परिदृश्य में हम बाहरी हैं, अछूत हैं। आधुनिकता हमारे लिए किसी सुपर बाजार की तरह है जहाँ हम ताखे में रखी विदेशी वस्तुओं को देखते हैं, चुनते हैं और पैसा चुका कर घर ले आते हैं। वहाँ कोई यह विश्वास नहीं करता कि हम आधुनिकता निर्मित भी कर सकते हैं।'[9]

---

[6] पुरुषोत्तम अग्रवाल (2010), *अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

[7] दिलीप परमेश्वर गाँवकर (1999) : 18.

[8] उदारतावादी नेताओं की अंग्रेजी शासन से एक मुख्य शिकायत थी कि यहाँ वैसी शासन व्यवस्था नहीं थी जैसी ब्रिटेन में. एक उदाहरण के तौर पर जिस सामंतवाद के पतन से आधुनिकता का प्रारम्भ हुआ था अंग्रेज़ों ने भारत में उसी सामंतवाद को संरक्षण दिया. स्व-शासन की माँग को हर कदम पर टाला गया और स्वराज्य के आंदोलनों पर दमनात्मक कार्रवाई हुई.

[9] पार्थ चटर्जी (2010), 'ऑवर मॉडर्निटीज़', *एम्पायर ऐंड नेशन : इसेंशियल राइटिंग्ज़, 1963-2005* (विद ऐन इंट्रोडक्शन ऑफ निवेदिता मेनन*),* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत : 151.

आधुनिकता और भारतीय रंगमंच

आधुनिकता के लिहाज़ से बाहरी होने और पिछड़ेपन के एहसास के तहत भारतीय बुद्धिजीवियों ने सामाजिक पिछड़ेपन से उबरने का जिम्मा लिया। यहाँ के सभी सामाजिक व्यवहारों और रीति–रिवाजों में से अधिकांश को पिछड़ा मान लिया गया और आधुनिक सुधरी हुई पहचान बनाने की कोशिश आरंभ हुई। मैकाले की नीतियों ने इसका रास्ता सुगम कर दिया। अंग्रेजी शिक्षा का एक उद्देश्य भारत को अंग्रेजी शासन व्यवस्था के अनुकूल करना तो था ही, इसका एक रास्ता साम्राज्य विरोध की तरफ भी गया। अंग्रेजी अनुकरण और आधुनिकता ने भारतवासियों को आधुनिक होने की ओर प्रेरित किया। आधुनिकता का आगमन वहीं पहले हुआ जहाँ अंग्रेजों की कोठियाँ थीं। संस्कृति और साहित्य का क्षेत्र भी अछूता नहीं रहा। साहित्य में जहाँ नॉवेल और शॉर्ट स्टोरी जैसी पश्चिमी विधाओं का आगमन हुआ, वहीं रंगमंच में प्रोसेनियम और शेक्सपीयर थियेटर का।

भारत में आधुनिक रंगमंच की शुरुआत प्रोसेनियम थियेटर के आगमन से होती है जब कलकत्ता में 1753 में और बम्बई में 1776 में प्रोसेनियम आर्क का आयात होता है। इसी बीच 1795 में पहली बार रूसी लेबडेफ के नेतृत्व में पहले देसी रंगमंच की नींव रखी जाती है। 1853 में विष्णुदास भावे पहली बार मराठी में टिकट लगा कर नाटक खेलते हैं।[10] अंग्रेजी रंगमंच और नाटकों के अध्ययन के बाद एवं संस्कृत नाटकों की खोज के बाद आधुनिक रंगमंच उन्हें ही आदर्श मानता है। इसी प्रक्रिया में सभी भारतीय भाषाओं में समरूपी रंगमंच निर्मित होता है। धीरे–धीरे रंगमंच भी समाज–सुधार और नवजागरण की चेतना के विकास में शामिल हो जाता है।[11] इसके बाद सभी भाषाओं के रंगमंचों के ज़रिये 'आत्म' और 'राष्ट्र' की खोज होने लगती है जिस पर आधुनिकता ज़ोर देती थी। हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों में इस राष्ट्रीय आत्म को साफ़ देखा जा सकता है। 'भारत दुर्दशा' में वे भारत की स्थिति और इसके पिछड़ेपन के कारणों की बात करते हैं। 'अंधेर नगरी' में सत्ता के चरित्र को उजागर करते हैं। 'नीलदेवी' में अतीत की ओर लौटते हैं। इसी तरह जयशंकर प्रसाद के नाटकों में भी राष्ट्रीयता, आत्म–गौरव, अतीत–गान और नारी–सशक्तीकरण आधुनिकता को ही जज़्ब करने की कोशिश है। जयशंकर प्रसाद 'चंद्रगुप्त' में पहले ही दृश्य में मागध और मालव को भूल कर राष्ट्र के उत्थान के प्रयत्न का आह्वान करते हैं। व्यावसायिक पारसी थियेटर में भी आगा हश्र काश्मीरी, नारायण प्रसाद बेताब एवं राधेश्याम कथावाचक इत्यादि आधुनिकता और राष्ट्रीयता के दबाव में उन्हीं प्रश्नों को अपने नाटकों में उठाते हैं जिसे हिंदी की साहित्यिक रंगमंच की धारा उठा रही थी। रंगमंच पर यथार्थवाद का आगमन और नाटकों की तीन अंकीय सरंचना का आगमन भी भारत में आधुनिकता और पश्चिमी प्रभाव में होता है। यथार्थवादी अभिनय और मंच पर काव्य की अनुपस्थिति भी इसी प्रभाव की देन है। इस प्रक्रिया में पारम्परिक नाट्यरूप को पिछड़ा मान लिया जाता है। उन्हें 'भ्रष्ट' करार दिया जाता है क्योंकि वे आधुनिकता से पहले के ज़मानों के होने के कारण आधुनिक रंगमंच की परिभाषा में फिट नहीं थे। भारत का आधुनिक रंगमंच नगरों में ही विकसित होता है और अभिनेता एवं दर्शक वर्ग में अधिक संख्या आधुनिक शिक्षित मध्यवर्ग की ही रहती है । इस वर्ग के सौंदर्य बोध में पारम्परिक रंगमंच की कोटि निम्न है। इसीलिए आधुनिक रंगमंच इससे दूरी बनाये रहता है।

आधुनिकता से प्रेरित रंगमंच के बरक्स यह प्राक्–आधुनिक किस्म का पारम्परिक रंगमंच भी गतिशील रहते हुए अपने तरीक़े से आधुनिकता के मार्ग तलाशता है। इप्टा (भारतीय जन नाट्य संघ)

---

[10] आनंद लाल (2009), 'ए हिस्टोरियोग्राफी ऑव मॉडर्न इंडियन थियेटर', नंदी भाटिया (सम्पा.), *मॉडर्न इंडियन थियेटर,* ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 32–33.

[11] हिंदी में 'भारतेंदु हरिश्चन्द्र बांग्ला में, माइकेल मधुसुदन दत्त और दीनबंधु मित्र मराठी में, खाडिलकर इत्यादि के नाटकों में यह स्वर मिलता है. भारतेंदु ने नाटक के उद्देश्य में ही देशवत्सलता और समाज सुधार को शामिल किया था.

इन दो धाराओं को मिलाने का प्रयास करता है और नाटक को प्रोसेनियम रंगमंच से बाहर निकाल लाता है। इप्टा आधुनिक रंगमंच के तहत नाटककार द्वारा सूत्रबद्ध शब्द आधारित, कथा-वस्तु केंद्रित संरचना और पारम्परिक रंगमंच से अलगाव त्याग देता है। इप्टा में नाटक प्रदर्शन आधारित हो जाता है। नाटक इम्प्रोवाइज़ेशन (मौक़े पर ही किये जाने वाले रचनात्मक परिवर्तनों) से तैयार किया जाता है और उसे गलियों, नुक्कड़ों, मिल गेटों इत्यादि पर खेला जाने लगता है।[12]

हबीब तनवीर को रंगमंच की शुरुआती दीक्षा इप्टा में ही मिली थी। इप्टा में उस समय बम्बई का सेंट्रल ट्रुप सबसे सक्रिय था और हबीब बम्बई में ही इप्टा के बलराज साहनी, दीना गाँधी इत्यादि के सम्पर्क में थे। इप्टा में हबीब ने सामूहिकता में नाटक-निर्माण करना, लोक-शैली का उपयोग करना, राजनीतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करना और अपने रंगकर्म को व्यापक समाज से जोड़ना सीखा। आज़ादी के बाद के माहौल और भाकपा के नेतृत्व-परिवर्तन के कारण इप्टा ने संकट का सामना किया। एक तरफ कांग्रेस सरकार कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के ख़िलाफ़ मुहिम चला रही थी और उसके सभी बड़े नेताओं को भूमिगत होना पड़ा था, दूसरी तरफ आज़ादी मिलने के बाद इप्टा के रंगकर्मियों के बड़े वर्ग के सामने किसी तात्कालिक प्रेरणा का अभाव हो गया था। नेतृत्व परिवर्तन के बाद इप्टा को पार्टी की तरफ से वैसी स्वायत्तता भी नहीं मिल रही थी। हबीब साहब ने लिखा भी है, 'आज़ादी मिलने के बाद ही पार्टी के नेता रणदिवे और पी.सी. जोशी की राय मुख़्तलिफ़ होने लगी। पार्टी में बड़ा अलगाव आया। इसका सीधा असर इप्टा पर पड़ा। इस दृष्टि से इलाहाबाद में हुई पार्टी कान्फ्रेंस का बड़ा महत्त्व है। सारे देश के नेता जुटे थे। लेकिन, आगे आने वाले सालों में पार्टी का क या रवैया हो, इस बारे में वे एकमत नहीं हो सके। चुनाँचे पार्टी बँट गयी और इप्टा के काम पर उसका सीधा असर पड़ा। इप्टा की अपनी कोई पॉलिसी तो थी नहीं, पार्टी जो करने को कहती थी वो किया जाता था। मज़ा देखिये कि उस ज़माने में कैसे-कैसे लोग इप्टा से जुड़े थे। उदय शंकर, रवि शंकर, नरेंद्र शर्मा, शम्भू मित्र, सचिन शंकर सभी लोग तहेदिल से इप्टा के मूवमेंट में जुड़े थे । अपने को पार्टी का बिना तमगे वाला सिपाही मानते थे। लेकिन जब पार्टी में टूटन आयी तो समझ में ही नहीं आया कि क्या करें, क्योंकि इप्टा तो पार्टी का सांस्कृतिक विभाग (कल्चरल स्क्वाड) था। स्वतंत्र रूप से उसकी कोई पॉलिसी थी नहीं। लोग निराश हो गये। रास्ता दिखाने वाले के अभाव में धीरे-धीरे रास्ता छोड़कर अलग हो गये।'[13] पी.सी. जोशी के महासचिव पद से हटने के बाद रणदिवे की नीतियों से इप्टा के रंगकर्मियों का अलगाव बढ़ा। इप्टा से बिखराव के बाद उसके लोगों ने अपने-अपने नाट्यकर्म की
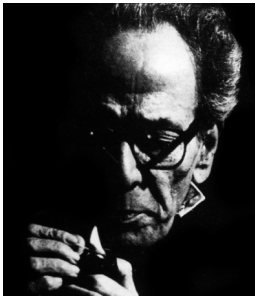
हबीब तनवीर को रंगमंच की शुरुआती दीक्षा इप्टा में ही मिली थी। इप्टा में हबीब ने सामूहिकता में नाटक-निर्माण करना, लोक-शैली का उपयोग करना, राजनीतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करना और अपने रंगकर्म को व्यापक समाज से जोड़ना सीखा।

[12] इप्टा द्वारा खेले गये नाटक 'जादू की कुर्सी', 'शांतिदूत', 'कामगार' इत्यादि ऐसे ही थे. इप्टा लिखे गये नाटकों को भी जनता के बीच जा कर खेलती थी. पारम्परिक रंग-शैली में भी रंगमंच यात्रा करके लोगों के बीच पहुँचता था. पारसी थियेटर ने रंगद्वारी (प्रोसेनियम) मंच तो अपनाया था, लेकिन वह भी यात्रा करके दर्शक तक पहुँचता था.

[13] भारत रत्न भार्गव (2006), *रंग हबीब,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 37; सलिल चौधरी के संस्मरण में भी ऐसी स्थिति का उल्लेख मिलता है जिसका ज़िक्र हबीब तनवीर ने भी किया है. देखें, सलिल चौधरी (2012), 'इप्टा न होती तो सलिल चौधरी न होता' *नया पथ,* खण्ड 26, अंक 1-2.
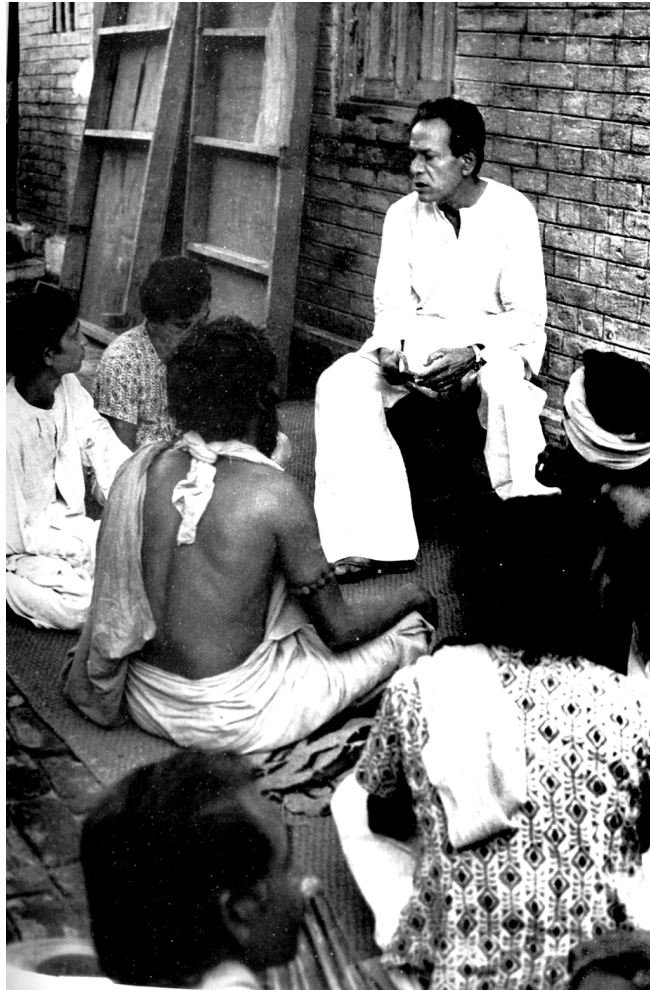
छत्तीसगढ़ी कलाकारों के साथ हबीब तनवीर

धारा खोजनी शुरू की और यह धारा आधुनिक रंगमंच से सीधे जुड़ने की बजाय एक भारतीय किस्म के रंगमंच के आविष्कार में लग गयी। इसके बीज आधुनिक रंगमंच से पहले की परम्परा में मिलते हैं। शंभू मित्र द्वारा रवींद्रनाथ के नाटकों की प्रस्तुति और हबीब तनवीर का 'आगरा बाज़ार' ऐसी ही खोज का संकेत है जिसमें आधुनिकता प्रदत्त यथार्थवादी पद्धति को छोड़ दिया गया था।

प्रशिक्षण के लिए राडा (रॉयल अकादमी ऑव ड्रैमेटिक आर्ट्स) जाने से पूर्व ही हबीब तनवीर रंगमंच पर 'आगरा बाज़ार' जैसी प्रस्तुति कर चुके थे। यह नाटक आधुनिक था, पारम्परिक था, या क्या था? यह तय करने में उस समय समीक्षकों को परेशानी हुई थी, क्योंकि इस नाटक में न तो नाट्य लेखन की आधुनिक विशेषताएँ थीं और न ही अभिनेता आधुनिक तौर पर प्रशिक्षित थे। रंगमंच भी प्रोसेनियम नहीं था। सुरेश अवस्थी ने इस परेशानी के बारे में लिखा है, 'एक ही प्रदर्शन में जैसे यथार्थवादी रंगमंच की सभी रूढ़ियाँ और व्यवहार अपरिचित और विजातीय लगने लगे, और नाट्य प्रदर्शन के साथ दर्शक की साझेदारी हो गयी। यह बात और है कि यथार्थवादी पश्चिमी नाट्य पद्धति

के दावेदार 'आगरा बाज़ार' को नाटक ही नहीं मानेंगे।[14] हबीब तनवीर ने यथार्थवादी रंगमंच को अस्वीकार करने के साथ-साथ गीत-संगीत को भी नाटक में शामिल किया था। कथ्य के स्तर पर भी यह नज़ीर अक़बराबादी के जीवन के साथ उनकी समकालीन सामाजिक स्थिति और राजनीति को भी अभिव्यक्त करती था।

राडा में हबीब तनवीर एक ही साल रहे। वहाँ की प्रशिक्षण-पद्धति से उन्हें जो सीखना था सीख लिया। उसके बाद ब्रिस्टल ओल्डविक थियेटर में कुछ दिन रहे, ब्रिटिश ड्रामा लीग में रहे, यूरोप की यात्रा की, जर्मनी गये, ब्रेख्त की पद्धति का परिचय प्राप्त किया। भारत लौट के बेग़म कुदसिया ज़ैदी के लिए 'मृच्छकटिकम' की प्रस्तुति 'मिट्टी की गाड़ी' के नाम से की। इस प्रस्तुति में वे छत्तीसगढ़ी कलाकारों को ले आये। यह दूसरी बार था जब उन्होंने अपने रंग-प्रयोग से चौंकाया। वे आधुनिक रंगमंच पर ऐसे अभिनेताओं से प्रस्तुति करा रहे थे जो आधुनिक रंगमंच का क ख ग भी नहीं जानते थे। हबीब तनवीर ने इन अभिनेताओं को ऐसे किरदारों में लिया था जिससे इस नाटक का राजनीतिक प्लाट अधिक उभरता था। प्रस्तुति के धरातल पर उन्होंने पश्चिमी यथार्थवाद को अस्वीकार किया और 'रस' के निकट गये। इसी प्रस्तुति में ही उन्हें संस्कृत और लोक के साथ रिश्ते का अनुभव हुआ।

हबीब तनवीर ने पश्चिम में प्रशिक्षण प्राप्त किया था, लेकिन उन्होंने अपना रास्ता अपने प्रशिक्षण में नहीं बल्कि अपने आस-पास के जीवन में खोजा। नाचा के अभिनेताओं को साधने में उन्हें दस वर्ष से ऊपर लग गया। उन्हें अपने सीखे हुए का अधिकांश छोड़ना पड़ा। दूसरी तरफ़, लोक अभिनेताओं के साथ काम करने के बावजूद हबीब तनवीर की शैली पूर्णत: लोक की नहीं थी। उन्होंने पश्चिम की उस आधुनिकता, जिसमें परम्परा को आधुनिकता के विपरीत[15] समझा जाता था, को अस्वीकार कर दिया और अपना रास्ता परम्परा और आधुनिकता के बीच उनके मिश्रण में तलाशा। हबीब तनवीर के आधुनिकता से रिश्ते को समझने के लिए हमें उनके विचारों को जानना होगा।

हबीब तनवीर पूछते हैं कि क्या है आधुनिकता? क्या हर पश्चिमी चीज़ आधुनिक है, और पूर्वी चीज़ पिछड़ी? वे कहते हैं, 'आधुनिकता के बारे में अजीब सी ग़लतफ़हमी पायी जाती है। आम-तौर पर आधुनिकता को बहुत से लोग कुछ इस तरह मान लेते हैं कि जैसे एक अजीब सी चीज़ है जो आसमान से उतरी है या लंदन, पेरिस, अमेरिका, न्यूयार्क वग़ैरह में बनाई जाती है, और वहाँ से आयात की जा सकती है।'[16]

इस कथन में उनकी तल्ख़ी आसानी से दिख जाती है। मतलब साफ़ है कि हबीब आधुनिकता को केवल पश्चिम की निर्मिति नहीं मानते। वे पश्चिम के वर्चस्व पर भी एतराज़ जताते हैं, 'आज तक जितनी तवारीख़ लिखी गयी है मग़रिब में, तहज़ीब की, तमद्दुन की या आर्ट की, वो सब यूनान से, मिस्र से या रोम से शुरू होती है। मिस्र का नाम लेते हैं क्योंकि यूनान से उसका ताल्लुक़ था। लेकिन कभी चीन का ज़िक्र नहीं आता, कभी हिंदुस्तान का ज़िक्र नहीं आता, ईरान का ज़िक्र भी बहुत कम आता है। तो इस पर मेरी तबीयत बहुत झल्लाती थी कि ये क्या तमाशा है? सारी तहज़ीब और तमद्दुन जो है वह सब का सब यूरोप से ही शुरू हुआ और यूरोप पर ही ख़त्म हुआ। और हम ग़ुलाम मुल्क के जो लोग हैं, सिवाय उनसे सीखने के कुछ नहीं रह गया।[17] वे मानते हैं कि आधुनिकता की अपनी ज़मीन भी हो सकती है, जिसमें वह पनप रही है। लादी गयी आधुनिकता के विपरीत यह अपने क़िस्म

---

[14] सुरेश अवस्थी (2000), *हे सामाजिक,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली : 118.

[15] हैबरमास (1997).

[16] हबीब तनवीर (2005क), 'रंगमंच और लोकसंस्कृति', *नुक्कड़ जनम संवाद,* खण्ड 7, अंक 23-26: 43.

[17] हबीब तनवीर (2009), 'थियेटर और मेरे अनुभव', राजेंद्र शर्मा (सम्पा.), *हमने हबीब को देखा है,* सहमत, नयी दिल्ली : 23.

की आधुनिकता होगी जो अपने जीवन के सवालों से टकराएगी। 'कोई भी चीज़ जो आपकी ज़िंदगी में हायल हो रही है उसे एक तीखे अंदाज़ में अगर बयान करना है तो उसे आधुनिकता नहीं कहेंगे तो आप किसे कहेंगे? हमारी वर्तमान ज़िंदगी है और उसमें उसके नये-नये तरीक़े होंगे लेकिन आधुनिकता की एक छाप, एक मोहर नहीं होगी कि इसका नाम है आधुनिकता।'[18] यहाँ हबीब तनवीर आधुनिकता के उसी आलोचनात्मक स्वरूप से अपने को जोड़ रहे हैं जिसे फूको ने ज़ोर देते हुए रेखांकित किया था।

हबीब तनवीर पश्चिमी आधुनिकता और विकास से ख़फ़ा दिखते हैं। और उनका ख़फ़ा होना वाजिब है। आधुनिकता के तहत समानता की स्थापना के लिए राष्ट्र-राज्य की ज़रूरत थी। राष्ट्र का ज़िम्मा था कि वह अपने उपक्रमों के ज़रिये समता लाये। लेकिन राज्य की यह कोशिश एकरूपता लाने की अधिक थी। राष्ट्र का यह भी दायित्व था कि एक जैसे अनुशासन और एक संस्कृति के तहत सारी आबादी को ले आया जाए ताकि उस पर नियंत्रण भी रखा जा सके। राष्ट्र के इस वृत्तांत ने एकरूपता को जन्म दिया। अंग्रेजी शासन की समाप्ति के बाद भी आज़ाद भारत में शासन और सत्ता के उन्हीं आधुनिक पैटर्नों को लागू किया गया जो अंग्रेज़ी विरासत की देन थे। अधिकारी तंत्र, पुलिस, क़ानून अधिकतर वही। आधुनिक होने के आदर्श भी वही। इसलिए बड़े-बड़े बाँधों और उद्योगों को आधुनिक मंदिर का दर्जा दे दिया गया।

एकरूपता उत्पन्न करने का ज़रिया संस्कृति भी है, और रंगमंच उससे अलग नहीं है। आज़ादी के साथ ही राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना की बहस छिड़ जाती है। इसी उद्देश्य के तहत राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (रानावि) की स्थापना होती है। रानावि में अलग-अलग भाषाओं से ताल्लुक़ रखने वाले अभिनेताओं को अंग्रेज़ी में प्रशिक्षण दे कर हिंदी भाषा में प्रस्तुति कराई जाती है। रानावि की इस नीति पर भी हबीब तनवीर सवाल उठाते हैं. क्योंकि इसमें रंगकर्मियों को उनकी मातृभाषा में प्रशिक्षण नहीं दिया जाता था और न वे उस भाषा में रंगमंच कर पाते थे। यह एक दमनकारी प्रक्रिया थी। इस दौरान रंगमंच पर भी ऐसी प्रस्तुतियाँ अधिक चर्चित होती हैं जिसमें या तो राष्ट्र केंद्र में है या आधुनिक मध्यवर्गीय परिवारों का भीतरी द्वंद्व, या आधुनिकतावादी समस्याएँ।[19] हबीब तनवीर इन सबसे अपना रास्ता अलग बनाते हैं और 'मिट्टी की गाड़ी' की प्रस्तुति के बाद लोक कथाओं और लोक कलाओं की प्रस्तुति संबंधी प्रयोग करते हैं। उनकी प्रस्तुतियाँ दिल्ली के आधुनिक दर्शकों के सामने विफल होती रहती हैं।

हबीब तनवीर ने देखा कि आधुनिक रंगमंच किस तरह से पश्चिमी रंगमंच की नक़ल है[20] और किस तरह भारतीय रंगमंच ख़ास कर हिंदी रंगमंच अंग्रेज़ी रंगमंच का अनुकरण कर रहा है। हिंदी रंगमंच के विकास में भी यह नक़ल बाधक हुई। इस नक़ल का कारण वह शिक्षा व्यवस्था है जिसे भारत को आधुनिकता बनाने के लिए सुधारवादी नेता लागू करना चाहते थे। 'राजा राममोहन राय, सैयद अहमद ख़ाँ और पंडित नेहरू का चाहे जो मतलब रहा हो, लेकिन जब वे चिंतन की पाश्चात्य पद्धति को जनता की शिक्षा के नाम पर लागू करना और सतत बनाये रखना चाहते थे, तो वे निश्चित तौर पर हमें एंग्ल-इंडियन में परिणत करना चाहते थे।'[21] विचार के तौर पर पश्चिम ने ग़ैर-पश्चिमी देशों के मस्तिष्क में ऐसे ही प्रवेश किया था।[22]

---

[18] हबीब तनवीर (2005 क) : 43.

[19] 'अंधा युग', 'तुगलक', 'आधे अधूरे', 'आषाढ़ का एक दिन', 'पहला राजा' आदि ऐसी ही प्रस्तुतियाँ हैं जो आधुनिकता की परिभाषा में फिट होने के साथ-साथ नेहरूवादी स्वप्न भी चित्रित करने का प्रयास करती हैं.

[20] हबीब तनवीर, 'क्या हुआ?' (अनुवाद : अमितेश कुमार), http://rangwimarsh.blogspot.in/2010/10/blog-post.html 12 दिसम्बर 2012 को पढ़ा गया.

[21] वही.

[22] आशिस नंदी (1983), *द इंटीमेट इनेमी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 11.

हबीब तनवीर चाहते थे कि रंगमंच पहले तमाम बंधनों से बाहर आये। रंगमंच को पहले ख़ुद उन अजनबी मूल्यों की मजबूत पकड़ से मुक्ति पानी होगी जिसमें पश्चिमी बंधन भी शामिल है।[23] इन बंधनों को तोड़ने की पहल उन्होंने स्वयं की। 'आगरा बाज़ार' का उदाहरण हम ऊपर देख चुके हैं। दरअसल जिस समय वे यूरोप की यात्रा पर थे, उस समय उन्होंने पाया कि पश्चिम का रंग-जगत पूर्व की ओर देख रहा है। पूर्व की परम्परा में आध्यात्मिक सम्पन्नता अधिक थी, इसलिए उन्हें पारम्परिक थियेटर अधिक प्राणवान लगा। उन्होंने पाया कि ठेठ हिन्दुस्तानी तरीक़े से थियेटर करने से ही हमारी आइडेंटिटी और कोई जगह बन सकती है। थियेटर को सार्थक बनाया जा सकता है। नक़ल करना निहायत ग़लत है।[24] साथ ही उन्होंने महसूस किया कि पश्चिम से आयातित नाट्य रूप भारत की समकालीन सामाजिक स्थितियों, जीवन-व्यवहार, संस्कृति और मूलभूत समस्याओं को प्रभावी रूप से अभिव्यक्त करने में अक्षम हैं।[25] इसलिए वे पारम्परिक शैली की तरफ मुड़ते हैं। लेकिन इस शैली के इस्तेमाल मात्र से ही यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वे पारम्परिक नाटक कर रहे हैं। वे तो बस पारंपरिक रंग तत्त्व का इस्तेमाल करते हैं। एक तरह से अपनी अस्मिता की खोज का यह ठेठ तरीका है। आधुनिकता की अपनी निजी व्याख्या है। हबीब तनवीर अपने विचारों का अपने नाटकों में इस्तेमाल करते हैं। 'चरनदास चोर' से वो अपनी ज़ुबान पा लेते हैं। इस नाटक में हबीब तनवीर ने सत्य और सत्ता के संबंधों पर टिप्पणी की है। एक चोर सत्य पर अडिग रहता है और सत्ता अपना ऐब छुपाने के लिए उसकी हत्या कर देती है। इस नाटक में हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ़ी का प्रयोग किया और कोरस के साथ एक कल्पनाशील दृश्यबंध में प्रस्तुति की। कोरस नाटक की कथा को आगे बढ़ाने के साथ वर्तमान पर भी टिप्पणी करता है। इस प्रस्तुति में हबीब तनवीर ने बोली के साथ-साथ आदिवासी नृत्य को भी शामिल किया था। इस नाटक में उन्होंने अपना मुहावरा पा लिया, और इसके बाद वे अपने मुहावरे में ही हर समकालीन समस्या से टकराते नज़र आये।

'चरनदास चोर' से वो अपनी ज़ुबान पा लेते हैं। इस नाटक में हबीब तनवीर ने सत्य और सत्ता के संबंधों पर टिप्पणी की है। एक चोर सत्य पर अडिग रहता है और सत्ता अपना ऐब छुपाने के लिए उसकी हत्या कर देती है।

हबीब तनवीर कहते थे, 'किसी नयी चीज़ को पुरानी चीज़ से मिला दीजिये तो एक तीसरी ख़ासियत पैदा होती है और उसका नाम है आधुनिकता या रेनेसाँ।'[26] नयी चीज़ ली उन्होंने कहानी और अपने आस-पास का समाज, पुरानी चीज़ थी परम्परा से चले आ रहे पारम्परिक और संस्कृत रंगमंच की युक्तियाँ और इसको मिलाकर उन्होंने अपना रंगमंच तैयार किया। अरस्तू के संकलन के बजाय उन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धांत को अपनाया। पश्चिम के संकलनत्रय में नाटक के तहत कार्य, स्थान और समय की अन्विति आवश्यक थी। पश्चिमी विद्वानों ने संस्कृत नाटकों में इस अन्विति के अभाव
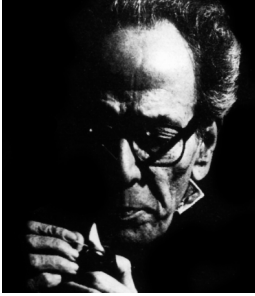
---

[23] हबीब तनवीर (2005 ख), 'सबवर्सिव प्रॉसेसेज इन थर्ड वर्ल्ड कल्चर : द क्वेशन ऑफ लिबरेशन इन थियेटर', *नुक्कड़ जनम संवाद,* खण्ड 7, अंक 23-26 : 31.

[24] *प्रतिभा अग्रवाल (सम्पा.)* (1993), *हबीब तनवीर-: एक रंग व्यक्तित्व,* नाट्य शोध संस्थान, कोलकाता : 27.

[25] एरिन बी. मी (2008), *थियेटर ऑव रूट्स,* सीगल बुक्स, कोलकाता : 7.

[26] हबीब तनवीर (2005 ग), 'लोककथाओं और लोकगीतों में प्रतिवाद के स्वर', *नुक्कड़ जनम संवाद,* खण्ड 7, अंक 23-26 : 55.

को पाकर उनकी रंगमंचीयता पर संदेह प्रकट किया था। हबीब तनवीर ने अपनी प्रस्तुति के दरम्यान यह पाया कि संस्कृत नाटकों में एक अद्‌भुत तरलता है और यह लोक–नाटकों में भी है। उन्होंने रस की महत्ता पर विचार किया और इसकी ताक़त को समझा। अपने व्याख्यानों में बहुधा उन्होंने रस के लचीलेपन और नाटक को एक सूत्र में बाँधने की उसकी क्षमता का हवाला दिया है। इस प्रक्रिया में उन्होंने अरस्तू के संकलनत्रय को रंगमंचीय अभिव्यक्ति के लिए सर्वमान्य सिद्धांत मानने से इनकार किया और पश्चिमी विद्वानों की इस मान्यता का प्रति–उत्तर दिया कि संस्कृत नाटककार ड्रामाटर्जी नहीं जानते थे। उन्होंने कहा कि पश्चिम के विद्वान भारतीय काल और समय की संकल्पना नहीं समझ पाये थे जो पश्चिम से अलग थी।[27] इन नाटकों में स्पेस बदलते रहते हैं और इसके साथ समय भी। एक ही नाटक में कई स्पेस कई समय पर एक्शन में रहते है। यह नाटक दर्शकों की कल्पना पर अधिक विश्वास करता था, और यथार्थवाद[28] की तरह दर्शकों को सब कुछ नहीं बताता, इसीलिए यथार्थवाद ने उन्हें कभी आक्रांत नहीं किया। प्रोसेनियम थियेटर के बजाय उन्होंने खुले स्पेस को प्राथमिकता दी, हालाँकि उनके नाटक प्रोसेनियम में भी खेले जाते रहे। लेकिन इन नाटकों की सरंचना देखने से पता चलता है कि ये खुले मंच के नाटक हैं। उनकी पूरी नाट्ययात्रा में 'आगरा बाज़ार', 'बहादुर कलारिन', 'जिस लाहौर नइ देख्या' इत्यादि जैसी कुछ ही प्रस्तुतियों में यथार्थवादी दृश्यबंध का उपयोग किया गया है, यद्यपि इन्हें भी पूरी तरह यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता।

आधुनिक रंगमंच पाठ आधारित नाटक था जिसमें एक नाटककार पहले आलेख लिखता था और निर्देशक उसे मंचित करता था। हबीब तनवीर के अधिकतर नाटक इम्प्रोवाइज़ेशन से तैयार होते थे, इसीलिए प्रदर्शन–दर–प्रदर्शन नाटक बदलता जाता था। इन नाटकों के शिल्प में इतना लचीलापन था कि वे आसानी से कतर ब्योंत कर लेते थे।[29] उनके नाटकों के आलेख कई साल के बाद छपे, क्योंकि वे प्रदर्शन–आलेख थे। भारत में पारम्परिक रंगमंच भी ऐसा ही था। पारम्परिक नाटकों के लिखित आलेख बहुत कम उपलब्ध हैं, लेकिन अभिनय परम्परा से ये पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते चले आ रहे हैं। आजकल इम्प्रोवाइज़ेशन से नाटक तैयार करने का प्रचलन में है। इसके सूत्र भारतीय परम्परा में है जिसे इप्टा ने खोजा और हबीब तनवीर ने जिसकी सम्भावनाओं का असीम विस्तार किया। 'चरणदास चोर', 'गाँव का नाँव ससुराल', 'सड़क' इत्यादि नाटक इम्प्रोवाइज़ेशन से ही तैयार हुए हैं।

ऐसा नहीं है कि हबीब तनवीर ने पश्चिम से कुछ नहीं लिया। ब्रेख्त से वे बहुत अधिक प्रभावित रहे क्योंकि ब्रेख्त ने एशियाई परम्परा से बहुत कुछ लिया था और उनका शास्त्र भारतीय शैली के बहुत निकट था। इस सिलसिले में यह चर्चा भी आवश्यक है कि हबीब ने ब्रेख्त को अपनी शैली में 'मिट्टी की गाड़ी' में इस्तेमाल किया जबकि भारतीय रंगमंच में ब्रेख्त का आगमन सत्तर के दशक के आरंभ में हुआ। इसके बाद ब्रेख्त की प्रस्तुतियों को लेकर सभी निर्देशकों ने अलग–अलग रवैया अपनाया। उनके नाटकों की प्रस्तुतियाँ हुईं, एलियनेशन की अनेक व्याख्याएँ हुईं और उनकी शैली को भी इस्तेमाल किया गया।[30] ब्रेख्त ने एशियाई परम्परा से बहुत कुछ सीखा था और उसे अपने

---

[27] हबीब तनवीर (2005 घ), 'क्लासिकल और फोक थियेटर', *नुक्कड़ जनम* संवाद, खण्ड 7, अंक 23–26 : 37, 46.

[28] यहाँ यथार्थवाद से हमारा आशय रंगमंच की उस शैली से है जिसमें मंच को जीवन के सदृश्य रखने पर ही ज़ोर था। यथार्थवादी शैली के अस्वीकार के बावजूद हबीब के नाटकों में यथार्थ अनुपस्थित नहीं था. ब्रेख्त और लूकाच के संवाद में भी यथार्थ की अभिव्यंजनात्मक प्रस्तुति को ही श्रेष्ठ माना गया था. शाश्वती मजूमदार (2012), 'ब्रेख्त लूकाच संवाद' नया पथ, खण्ड 26, अंक 1–2.

[29] महेश आनंद (2011), 'आगरा बाजार : कुछ यादें', *नटरंग,* खण्ड 22, अंक 86–87; नया थियेटर के अभिनेताओं से हुई मेरी बातचीत में भी यह बात सामने आयी है.

[30] ब्रेख्त को विभिन्न निर्देशकों द्वारा विभिन्न तरीक़ों से अपनाये जाने और प्रस्तुत करने के व्यापक ब्योरे के लिए देखें, वसुधा डालमिया (2006), 'पोयटिक्स, प्लेज़ ऐंड परफ़ॉर्मेंसिज़', *द पॉलिटिक्स ऑव मॉडर्न इंडियन थियेटर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 163–212.

नाटकों में लिया था। हबीब तनवीर की तरह ब्रेख्त भी कवि थे और उन्हें भी पश्चिम में यथार्थवाद से टकराना पड़ा था। ब्रेख्त के नाटकों में भी गीत-संगीत से युक्त महाकाव्यात्मक प्रस्तुति विधान था और राजनीति उसके कथ्य के केंद्र में थी। हबीब का मानना था कि सामाजिक समस्याओं को उपयुक्त रूप से अभिव्यक्त करने के लिए अपनी जड़ों और अपने रूपों को खँगालने और तराशने की ज़रूरत है और ब्रेख्त यह बेहतर सिखाते हैं। अगर कोई भारतीय नाटककार देशज रंगमंच का विकास करता है तो वह सही अर्थों में ब्रेख्तियन होगा।[31] जड़ों के रंगमंच के आंदोलन के बाद जब लोक रंगमंच के प्रति शहरी रंगकर्मियों का रुझान बढ़ा, तो ब्रेख्त भी केंद्र में आ गये और रंगमंच के बड़े तबके को यह आशंका भी हुई कि लोक की तरफ वापसी और राजनीति का नकार[32] ही इस रंगमंच का मुहावरा न बन जाए। हबीब तनवीर ने इस आशंका से राहत दिलाई और अपने नाटकों में राजनीति को कम नहीं होने दिया।

शहरीकरण आधुनिकता की एक बड़ी प्रवृत्ति है। भारत में आज़ादी के बाद शहरीकरण बढ़ा और विकास की प्रक्रिया शहरों के इर्द-गिर्द चली। इसने विस्थापन को बड़े पैमाने पर बढ़ावा दिया। विस्थापन और बेघर होने का आलम आधुनिकता के साथ जुड़ा हुआ है।[33] पूँजी का केंद्र शहर बनते हैं और रोज़गार इन्हीं के इर्द-गिर्द विकसित होते हैं। सरकारी और औद्योगिक नीतियों के फलस्वरूप पारम्परिक साधनों पर बड़ी आबादी की निर्भरता पर्याप्त नहीं रहती, इसलिए रोज़गार के लिए शहरों की ओर पलायन होता है। इस पलायन में वे अपने पीछे एक संस्कृति छोड़ कर जाते हैं। दरअसल इस विकास में परम्परागत समाज पिछड़ रहे हैं और उनका यह पिछड़ना सभी मोर्चों पर है। इससे समरूपता पैदा हो रही है। विडम्बना यह है कि यह विकास सभी सांस्कृतिक विविधताओं पर समरूपता का पटरा फेर रहा है।[34] इसलिए हबीब तनवीर आधुनिकता की खोज पर अधिक जोर देते हैं। साथ ही वे बताते हैं कि उपनिवेशवाद से छूटे हुए देशों ने इस मौक़े को गँवा दिया है जिसमें वे अपनी जड़ों के विकसित चिह्नों के आधार पर विकास के अपने प्रतिमान गढ़ सकते थे। 'हमने पश्चिम की भूलों से भी कुछ नहीं सीखा। हमने अपनी आत्मा को तकनीक के दानव को, वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद, उदारवाद, मुक्त बाज़ार, अश्लील विज्ञापन, ज़हरीले चैनलों को बेच दिया।'[35] हमने लगभग विकास के उन्हीं प्रारूपों को अपना लिया जिसने पश्चिम को दो-दो विश्व युद्धों में झोंका था। आज भारत के अधिकांश हिस्सों में जो आंदोलन चल रहे हैं (आदिवासियों को उनकी पारिस्थितिकी से विस्थापित किया जा रहा है) आधुनिकता के उसी अंधानुकरण का नतीजा है जिसे आज़ादी के बाद अपनाया गया। दीपंकर गुप्त लिखते हैं कि 'सच्ची आधुनिकता को ग़रीब और दमित तबके को बहुत दिनों तक वंचित रखने की इजाज़त नहीं देनी चाहिए। बाँध निर्माण अपने आप में विकास और आधुनिकता नहीं है।'[36] अर्थात आधुनिकता व्यापक जनता के उन्नतिकरण की ओर होना चाहिए। आज विकास के जिस आधुनिक एजेंडे को लागू किया जा रहा है उसमें तीव्र औद्योगिकीकरण, संसाधनों के असीमित दोहन, प्रकृति के नियंत्रण इत्यादि पर जोर है। लेकिन इससे एक व्यापक जन समुदाय हाशिए पर पहुँच रहा है। हबीब तनवीर अपने छोटे से नाटक 'सड़क' में आधुनिक विकास

---

[31] प्रतिभा अग्रवाल (सम्पा.)(1993) : 161.

[32] जी. पी. देशपांडे (2002), 'थियेटर ऑफ मॉडर्निटी : सेलिब्रेशन ऑफ मॉडर्निटी', *थियेटर इंडिया,* वर्ष 2002, खण्ड 5 : 13.

[33] आदित्य निगम (2002).

[34] वही : 30.

[35] वही : 69.

[36] दीपंकर गुप्त (2000), 'इंडियाज़ अनमॉडर्न मॉडर्निटी', रोमिला थापर (सम्पा.), *इंडिया : अनदर मिलेनियम,* पेंगुइन इंडिया, दिल्ली : 99.

के इस अंतर्विरोध को उजागर करते हैं। राहुल वर्मा के नाटक 'ज़हरीली हवा' में वे दिखाते हैं किस प्रकार व्यापक जनसंहार के बाद विकास के सूत्रधार जनता को दयनीय स्थिति में डाल कर छोड़ देते हैं। इसीलिए सड़क के आदिवासी पात्र बताते हैं कि सड़क के आगमन से उनके जंगली जानवर, पेड़, फल इत्यादि समाप्त होते जा रहे हैं। इस आधुनिक विकास से केवल सामान्य जीवन ही नहीं उनकी संस्कृति भी प्रभावित होती है। इसी नाटक में आदिवासी शिकायत करते हैं कि उनकी संस्कृति, भाषा, पहनावा, नाच, गान सब कुछ बिगड़ रहा है। हबीब कहना चाहते थे कि वस्तुत: आधुनिकता विविधता को प्रश्रय नहीं देती। वह एकरूपता को प्रोत्साहन देती है और एक ही वृत्तांत में सब को ढालना चाहती है। यह दरअसल उपभोक्ता–निर्माण की प्रक्रिया है। लेकिन आधुनिकता केवल उपभोग भर नहीं है । इस उपभोक्तावाद और विकास से जो हानि हो रही है उसकी चिंता बराबर हबीब तनवीर के साक्षात्कारों में देखी जा सकती है। अपने साक्षात्कारों में वे मास–मीडिया से हो रही हानि की बात करते हैं, या छत्तीसगढ़ के गीतों, परम्पराओं के क्षरण की बात करते हैं। वे कहते भी हैं कि मास–मीडिया जन रुचियों और लोक कलाओं को विकृत कर रहे हैं।[37]

हबीब तनवीर के विचारों और कर्म के बीच फाँक नहीं है। अपने रंगमंच के माध्यम से उन्होंने छत्तीसगढ़ के बहुत से नृत्य, वाद्य, संगीत, शैली, लोकगीत, लोककथा आदि को संरक्षण दिया है। उनकी अधिकतर प्रस्तुतियों में ये सब कभी तो प्रस्तुति का हिस्सा बन कर आते हैं तो कभी प्रस्तुति बन के। जैसे राउत नाचा, आदिवासी नृत्य, पंथी नृत्य इत्यादि को उन्होंने प्रस्तुति का हिस्सा बनाया, तो पंडवानी, चंदैनी, इत्यादि की प्रस्तुति की। ध्यान देने की बात है कि ये सभी कलाएँ नाटक में कहीं बाहर से नहीं आतीं बल्कि नाटक की सरंचना का हिस्सा हो जाती हैं। क्या पंथी नृत्य और राउत नाचा के बिना 'चरनदास' की प्रस्तुति में वैसा तेवर सम्भव हो पाता? इसी तरह से 'कामदेव का अपना वसंत ऋतु का सपना' में बाँसा (बाँसुरी की तरह का एक वाद्य) वादन से प्रस्तुति की शुरुआत होती है तो जंगल का परिवेश स्वत: निर्मित हो जाता है। यही एक वाद्य, बिना किसी यथार्थवादी तामझाम के परिवेश रच देता है और पूरा नाटक खुले में होता है। 'जिस लाहौर नइ देख्या' जैसे यथार्थवादी नाटक में कोरस एक ज़रूरी हिस्से की तरह आता है जो नाटकीय तनाव को और गाढ़ा करता है। यानी एक ऐसी आधुनिकता भी हो सकती है जो अपनी परम्परा का संरक्षण करे, उसे व्यापकता दे और विविधता को प्रोत्साहन दे। संस्कृति को केवल उपभोग का उत्पाद ना समझा जाए।

आधुनिकता अपनी समकालीनता को समझने और उससे संबंध स्थापित करने की स्थिति और प्रवृत्ति है।[38] हबीब तनवीर भी कहते हैं कि अपने जीवन में आ रही स्थितियों से टकराना भी आधुनिकता है। वे समकालीन भारतीय रंगमंच पर समकालीन स्थितियों से सबसे अधिक जूझते हैं, प्रश्न करते हैं। आपातकाल के बाद 'चरनदास चोर' में रानी की निरंकुशता तत्कालीन स्थितियों में व्यंग्यात्मक हो जाती थी। 'हिरमा की अमर कहानी' में आदिवासियों के जीवन की विसंगतियों को उठाते हैं और 'बहादुर कलारिन' में लोककथा की नितांत आधुनिक व्याख्या करते हैं। आर्थिक उदारीकरण के बाद विकास की जो बयार बही, उससे हुए विकास के खोखले दावों की हक़ीकत

[37] हबीब तनवीर ने टेलीविज़न और सिनेमा जैसे लोकप्रिय माध्यमों की आलोचना की थी. यद्यपि उन्होंने इनमें काम भी किया, लेकिन उनका मानना था कि ये माध्यम, विशेषकर टेलीविजन सत्ता का उपकरण है, और उससे वह एक तरह का समरूपीकरण लाना चाहती है। वह दर्शक–समाज को उपभोक्ता–समाज में तब्दील कर रही है. वह इस माध्यम से इसलिए भी खफ़ा थे क्योंकि यह रंगमंच से दर्शकों को दूर कर रहा था. लेकिन यहाँ हबीब तनवीर ने इन माध्यमों की व्यापकता को नज़रअंदाज़ कर दिया. हबीब तनवीर, 'दूरदर्शन एक नये उपनिवेशीकरण का माध्यम बनता जा रहा है', *कलावार्ता*, वर्ष 21, अंक 193 (पत्रिका में प्रकाशन वर्ष का उल्लेख नहीं है).

[38] मिशेल फूको, 'व्हाट इज इलाइटेनमेंट?' http://sites.sdjzu.edu.cn/zhangpeizhong/what%20si%20 enlightenment.pdf 12 दिसम्बर 2012 को पढ़ा गया.

बताने के लिए 'सड़क' नाटक तैयार किया। इसमें कुछ गाँव वालों और उद्योगपतियों के बीच मुक़दमा अदालत में चल रहा है। ग्रामीण कहते हैं कि उनसे कभी पूछा ही नहीं गया कि विकास कैसे किया जाए? आधुनिक विकास में हमेशा केंद्रीय शक्तियाँ ही यह तय करती हैं कि विकास कैसे होगा। इसमें शायद ही आबादी से कभी पूछा जाता हो। नब्बे के दशक के बाद साम्प्रदायिक उन्माद ने समकालीन जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया। उसे केंद्र में रखकर हबीब तनवीर ने 'जिस लाहौर नइ देख्या' और 'एक औरत हिपेशिया भी थी' का मंचन किया। साम्प्रदायिक शक्तियों के उभार और सत्ता के साथ उनके गठजोड़ के दुष्परिणामों की चिंता से भी वे जूझ रहे थे । इसलिए गुजरात दंगों के बाद तैयार उनकी अंतिम प्रस्तुति 'राजरक्त' धर्म और राज-सत्ता के संबंधों और टकराव पर ही आधारित है। इसमें एक धर्मांध पुरोहित धर्म की रूढ़ियों को चलने देने के लिए राज-सत्ता को ही पलट देना चाहता है। जाति प्रथा की विडंबना को उन्होंने 'पोंगा पंडित' / 'जमादारिन' के माध्यम से व्यक्त किया। इसके कारण उन पर प्रतिक्रियावादियों ने हमले भी किये। इससे राज्य की उस प्रवृति का भी पर्दाफ़ाश हुआ जिसमें वह धर्मांधता और उच्च वर्ग का समर्थक नज़र आती है, और अपने अंतिम दिनों में जिस प्रस्तुति की तैयारी वे कर रहे थे वह है— 'कोणार्क'। यह नाटक भी सत्ता और शिल्पियों के द्वंद्वात्मक संबंध की वक़ालत करता है जिसमें शिल्पी का एक राजनीतिक दायित्व भी है।

हबीब तनवीर की इस रंगयात्रा से राजनीतिक रंगमंच के उनके रुझान को भी देखा जा सकता है। उपरोक्त प्रस्तुतियों के अतिरिक्त 'शाजापुर की शांतिबाई', 'लाला शोहरत राय', 'एक और द्रोणाचार्य', 'दुश्मन', आदि उनकी किसी भी प्रस्तुति में राजनीति का स्वर कभी मंद नहीं हुआ। संस्कृत के क लासिक नाटक के मंचन का एक आधुनिक रास्ता हबीब तनवीर ने ही सुझाया था। आधुनिक प्रस्तुतियों में उनका ज़ोर क्लासिक के पुनरुत्थान की बजाय उसके राजनीतिक निहितार्थों को वर्तमान की संगति में प्रस्तुत करना था। क्लासिक को भी उन्होंने लोक की संगति में पेश कर उसे सहज बना दिया था और पहली बार दुनिया को पता चला कि भारतीय संस्कृति महज़ उच्च-संस्कृति नहीं है, बल्कि उसके समानांतर जीवंत और शक्तिशाली लोक-शैली भी है। उन्होंने लोक और शास्त्रीय में विभेद करने वाले चिह्नों की बजाय उन्हें एक-दूसरे पर असर करने वाले तत्त्वों की तरह देखा था। हालाँकि समकालीनता के दबाव में कभी-कभी उन्होंने 'इंदर लोकसभा' जैसी प्रस्तुतियाँ भी की थीं। इसमें कांग्रेस के समर्थन का स्वर था जिसकी व्यापक आलोचना भी हुई।
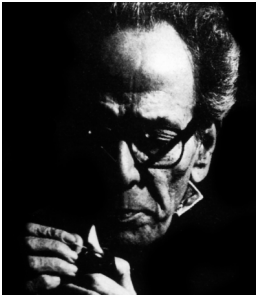
हबीब तनवीर के विचारों और कर्म के बीच फाँक नहीं है। अपने रंगमंच के माध्यम से उन्होंने छत्तीसगढ़ के बहुत से नृत्य, वाद्य, संगीत, शैली, लोकगीत, लोककथा आदि को संरक्षण दिया है। ... वे कहते हैं कि अपने जीवन में आ रही स्थितियों से टकराना भी आधुनिकता है।

लोक-शैली में नाटक करने के हबीब तनवीर के सफल प्रयोग के बाद 'जड़ों के रंगमंच' ने आंदोलनात्मक रुख लिया, लेकिन यह आंदोलन शहरी रंगमंच तक केंद्रित था, जिसमें पारम्परिक रंग तत्त्वों का इस्तेमाल कर प्रस्तुति तैयार कर ली जाती थी। इस आंदोलन से पारम्परिक रंगमंच को कोई लाभ नहीं हुआ। वह हाशिये पर रहा और उसके मूल प्रयोक्ता बेहाल रहे। हबीब तनवीर इन मायने में सबसे अलग थे। उन्होंने मौलिक पारम्परिक कलाकारों के साथ काम किया । इस मूलधर्मी यानी जड़ों के रंगमंच पर गैर-आधुनिक होने का आरोप लगा। साथ ही यह शंका व्यक्त की गयी कि अधिकांश शैलियों का हिंदू परम्परा से संबंध होने के कारण यह रंगमंच के सेकुलर चरित्र को हानि पहुँचाएगा। चूँकि ये सारे प्रयोग एक राष्ट्रीय रंगमंच के नारे के साथ हो रहे थे, अत: गोविंद पुरुषोत्तम

देशपांडे ने इसे आधुनिकता पर पूर्व आधुनिकता का हमला कहा, 'मैं गंभीरता से यह विश्वास करता हूँ कि इसका उद्देश्य आधुनिकता का निषेध करना है; और रंगमंच की पदावली में कहूँ तो आधुनिक रंगमंच का। हम यह सोचने लगे हैं कि एक आधुनिकता भारतीय विशेषता के साथ हो सकती है और यह ख़तरनाक है, क्योंकि यह रंगमंच को आधुनिक प्रक्रियाओं से जुड़ने से रोकेगा।'[39] हबीब तनवीर का रंगमंच इस बात का प्रतिवाद है। वे साबित कर देते हैं कि एक भारतीय किस्म की समावेशी आधुनिकता भी हो सकती है। वैसे उनके नाटकों में धार्मिक अनुष्ठान होते हैं, नृत्य होते हैं, मंगलाचरण होता है। 'छेरा छेरी' नाटक में तो अभिनेताओं को हाल से निकालने के लिए उन्होंने विहित कर्म कांड भी किया। लेकिन ऐसा करते हुए भी वे रंगमंच को आधुनिकता से बाहर नहीं खींच रहे थे। धर्म के भीतर की गड़बड़ियों को भी हबीब पूरी समर्थता से उजागर करते हैं। व्यापक विरोध के बावजूद वे अपना काम नहीं छोड़ते। आधुनिकता के तमाम पश्चिमी पैमानों की अवहेलना करते हुए अपनी आधुनिकता विकसित करते हैं जो जीवन को संपूर्णता और विविधता में देखती है। अशोक वाजपेयी ने लिखा है, 'उन्हें लगा कि आधुनिकता की प्रश्नवाचकता और संशयशीलता और लोक की आनन्दवृति और शाश्वतता में मेल–मिलाप सम्भव है। हबीब तनवीर की इस समझ से निकला रंगमंच एक तरह से उस आधुनिकता को सबवर्ट करता था जो लोक को पिछड़ा, परिष्कारहीन और आधुनिक अभिप्रायों के लिए सर्वथा अपर्याप्त मानती थी। इस आधुनिकता से बिल्कुल अलग हबीब तनवीर ने जो रंग–आधुनिकता विन्यस्त–विकसित की, उससे पहली बार हमारे समय में यह पहचान हुई कि चरम मानवीय प्रश्नों, इतिहास की उलझनों और विडम्बनाओं से रंगभूमि पर निपटने का ठेका शहरी कलाओं की बपौती नहीं है, कि भारत में कलायें प्रश्नवाचक और उत्सवधर्मी एक साथ हो सकती हैं, होती रही हैं। यह भी कि आधुनिकता की मनहूस–हताश गम्भीरता के बरक्स एक गाती–झूमती मज़े लेती आधुनिकता सम्भव है जो पहले के मुक़ाबले कम आधुनिक नहीं है।[40] और इस आधुनिकता की प्रस्तुति के लिए उन्होंने गम्भीरता और त्रासदी की जगह हास्य–व्यंग्य और उत्सव की शक्ल अपनी प्रस्तुति को प्रदान की। इस शैली में गूढ़ बातें भी सहज कही जा सकती थीं। चाहे 'देख रहे हैं नैन' में जीवन की उलझनों और गहन भावों की सहज अभिव्यक्ति हो, 'राजरक्त' में सत्ता और धर्म का द्वंद्व हो, 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य का तनाव हो, उनकी किसी भी प्रस्तुति में बोझिलता नहीं है। हँसता–खेलता चरनदास भी मरते वक्त गहरा असर कर जाता है। और उत्सवधर्मिता, जो पारम्परिक नाटकों या भारतीय जीवन शैली का अभिन्न अंग है, को भी वे मंच पर सम्भव करते हैं। 'आगरा बाज़ार' में होली, जन्माष्टमी इत्यादि उत्सव के अनेक रंग, इसी तरह 'मिट्टी की गाड़ी' में, 'चरनदास चोर' में राउत नाचा और पंथी पार्टी के रूप में और इसी तरह कई अन्य नाटकों में आदिवासी नृत्य को शामिल कर वे इसका निर्वाह करते हैं।

हबीब तनवीर ने रंगमंच में कुछ दिलचस्प प्रयोग किये। उन्होंने शहरी और ग्रामीण दोनों अभिनेताओं को मिला कर प्रस्तुतियाँ कीं। एक तरह से यह परम्परा और आधुनिकता का समन्वय था जिससे एक नयी चीज़ निकलती थी। फोर्ड फाउंडेशन के प्रोजेक्ट के लिए अपने कार्य के दौरान इस समन्वय में उन्होंने देखा कि नाटक के अंदर व्याप्त सामाजिक स्तरीकरण की समस्या स्वत: हल हो गयी है। शहरी और ग्रामीण चरित्रों की मंच पर अभिव्यक्तियों के अंतर से भी अर्थ उभर जाता था। ऐसा प्रयोग उन्होंने तब भी किया जब रानावि के लिए 'दुश्मन' निर्देशित किया। इसमें भी नया थियेटर

---

[39] अशोक वाजपेयी (2009), 'महिमा उनकी रहेगी, जिनका नाम हबीबी', राजेंद्र शर्मा (सम्पा.), *हमने हबीब को देखा है,* सहमत, नयी दिल्ली : 77.

[40] जी. पी. देशपांडे (1995), 'इज़ देयर, ऑर शुड देयर बी, अ नैशनल थियेटर इन इंडिया', *सीगल थियेटर क्वार्टरली,* वर्ष 1995, अंक 6, कोलकाता : 3.

के लोक-कलाकार मजदूर की भूमिका में थे। इस प्रयोग से उन्होंने पाया कि ग्रामीण जीवंतता और सहजता का संकोच टूटा और शहरी कलाकारों की भी अनुकरण की प्रवृत्ति दूर हुई थी। इसलिए इस अंतर्संबंध से एक सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का निर्माण हुआ।[41] हबीब तनवीर ने आधुनिकता की संरचना में अपने कलाकारों को ढालने की बजाय उनकी सरंचना को आधुनिक बनाया। प्रशिक्षण और प्रयोग के दौरान जब तक वे हिंदी में प्रयोग करते रहे, विफल हुए। हिंदी में इन कलाकारों की सहजता नष्ट हो आती थी, लेकिन जब छत्तीसगढ़ी में प्रयोग किये तो इनकी गति मुखर हो जाती थी। आधुनिक बनने की प्रक्रिया में इस सहजता को नष्ट होने से उन्होंने बचाया। अक्सर उनकी शैली को भी एक ही मान लिया जाता है और वह दीखता भी है, लेकिन इसी में उन्होंने अनेक लोकशैलियों के साथ प्रयोग किया। संस्कृत के नाटक किये और पाश्चात्य नाटक भी। पाश्चात्य नाटक भी सीधे-सीधे करने की बजाय उन्होंने यहाँ की ज़मीन में उनके कथ्य को तराशा और उसकी अभिव्यक्ति की।[42] इस अभिव्यक्ति से उन्हें व्यापक दर्शक वर्ग भी मिला। आधुनिक रंगमंच ने जिस आधुनिक शैली को अपनाया था, उसके दर्शक कम ही थे। वह हमेशा दर्शकों की समस्या से जूझता रहा था। दर्शकों को नाटक देखने के लिए अहर्ता प्राप्त करनी होती थी। हबीब की शैली परिचित शैली थी, इसलिए उसे दर्शक भी मिले।

हबीब तनवीर के समांतर हम इब्राहिम अल्काज़ी के काम को देखें। इब्राहिम अल्काज़ी रानावि में स्तानिस्लॉवस्की के प्रशिक्षण से प्रभावित पाठ्यक्रम बनाते हैं। उनके निर्देशित नाटक नाटककार द्वारा सूत्रबद्ध हैं। यथार्थवादी अभिनय शैली में शहरी अभिनेताओं द्वारा भव्य क़िस्म का थियेटर स्थापित करते हैं जो आधुनिकता के प्रतिमानों पर खरा है। इसके बरक्स हबीब तनवीर उन ग्रामीण अभिनेताओं से अभिनय करवाते हैं जो आधुनिक अभिनय शैली से नावाकिफ़ है। हबीब साहब के लिए पाठ से महत्त्वपूर्ण प्रदर्शन है। यथार्थवाद को छोड़कर बिल्कुल खुली शैली अपनाते हैं और बिल्कुल देशज थियेटर विकसित करते हैं। यह आधुनिकता का सर्जनात्मक रूपांतरण है। आधुनिकता से प्रभावित होकर रूप और व्यवहार के आधुनिकीकरण के बजाय वर्तमान से जूझने का मुख़्तलिफ़ बिंदु है। यह जगह है जहाँ लोग अजनबी तरीक़ों से आधुनिक होने की बजाय अपने को आधुनिक बनाते हैं जिसमें उनका अस्तित्व और उनकी अस्मिता निहित है।[43] इस देशज और पारम्परिक शैली में रंगमंच करने का यह अर्थ नहीं कि उनका थियेटर आधुनिक नहीं है या आधुनिकता के ख़िलाफ़ है। वस्तुतः यह वैकल्पिक आधुनिकता की प्रस्तावना है जो पश्चिमी आधुनिकता की परियोजना की भूलों से सबक ले कर अपनी परिस्थिति के अनुकूल विकसित हो रही है। यह आधुनिकता पश्चिम की पूँजीवादी और उपभोक्तावादी आधुनिकता की आलोचना है। औपनिवेशिकता से अलग होकर अपने आत्म की खोज में अपनी पहचान कायम रखने का सहज मार्ग है। अपने वर्तमान से प्रश्न करने में भी यह आधुनिकता सक्षम है। इसके सूत्र परम्परा में निहित हैं। यह समरूपता की जगह विविधता का पोषण करती है और किसी एक अस्मिता में घुलाने की बजाय अलग-अलग अस्मिताओं को उनकी पहचान में संरक्षित करती है। परम्परा को विरोधी मानने की बजाय यह उससे संवाद कायम करती है— इसलिए संतुलन बनाये रखती है। उनकी शैली परम्परा और आधुनिकता के मेल से निर्मित होती है। इस शैली में भले ही प्राक्-आधुनिक तत्त्व हों, लेकिन इस शैली में वे आधुनिक सवालों से ही टकराते हैं। स्वतंत्रता बाद की अपवर्जी आधुनिकता जिसमें बहुसंख्य आबादी, उसके सरोकार, उसकी अभिव्यक्तियाँ हाशिये

---

[41] 'गुड वुमॅन ऑव सेजुआन' की प्रस्तुति 'शाजापुर की शांतिबाई', 'बोर्ज़्वाज़ जेंटलमैन' की प्रस्तुति 'मिर्जा शोहरत बेग और लाला शोहरत राय', 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' की प्रस्तुति 'कामदेव का अपना वसंत ऋतु का सपना' के नाम से की गयी।

[42] *हबीब तनवीर : एक रंग व्यक्तित्व* (1993) : 220.

[43] दिलीप परमेश्वर गाँवकर (1999) : 19.

पर रहती हैं, और उसका समरूपीकरण किया जाता है, से इतर वे एक समावेशी आधुनिकता की बात कहते हैं।[44] हबीब तनवीर उपनिवेशीकरण की उस प्रक्रिया को साफ़ पहचानते हैं जिसके तहत आधुनिक बनने की होड़ शुरू हुई। इस प्रक्रिया में अंग्रेज़ी शिक्षा ने पहले दिमागों को अपने क़ब्जे में लिया। आधुनिकता को पा लेने की जल्दबाज़ी में उन सभी पारम्परिक चीज़ों को पिछड़ा समझ लिया गया जो सामुदायिक जीवन की जीवंतता का आधार थीं। विकास के विस्थापनवादी मॉडल ने भी संस्कृति की जड़ों को खोखला किया। इसीलिए हबीब तनवीर अपने चिंतन में परम्परा से छूटे सूत्रों की तलाश करते हैं, और यह बताते हैं कि परम्परा से अलग होकर वास्तविक विकास सम्भव नहीं, आधुनिक विकास के मॉडल में एक समुदाय हमेशा हाशिये पर रहेगा, पर्यावरण और उससे जुड़े सांस्कृतिक रूपों की क्षति होगी। इसलिए वे अपने रंगकर्म में भी परम्परा की ओर लौटते हैं, लेकिन किसी पुरातनपंथी की तरह इसका पुनरुत्थान न करके नवीन अर्थों में इसका पुनराविष्कार करते हैं। इससे वे ऐसा रंगमंच निर्मित करते हैं जो जीवन के सवालों से टकराता है। वे साधन का साध्य से संतुलन बनाते हैं और हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहते हैं कि चलने के लिए भी ज़रूरी है कि समझदार आदमी एक पाँव से परम्परा में खड़ा रह कर भी दूसरे पाँव से आधुनिकता में चलता है।

संदर्भ

सुरेश अवस्थी (2000), *हे सामाजिक,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

भारत रत्न भार्गव ( ), *रंग हबीब,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

आदित्य निगम (2002), 'आधुनिकता बनाम आधुनिकता', *संधान,* अंक 4 (सम्पा. लालबहादुर वर्मा, सुभाष गताड़े), इलाहाबाद.

हबीब तनवीर— एक रंग व्यक्तित्व (1993), नाट्य शोध संस्थान, कोलकाता.

राजेंद्र शर्मा (सम्पा.)(2009), *हमने हबीब को देखा है,* सहमत, नयी दिल्ली.

नुक्कड़ जनम संवाद (अप्रैल 2004-मार्च 2006), अंक-23-26, जन नाट्य मंच.

कलावार्ता, अंक 103, वर्ष 21, सम्पा. कमला प्रसाद, म.प्र. कला परिषद.

नटरंग, अंक 87, नटरंग प्रतिष्ठान, सम्पा. अशोक वाजपेयी और रश्मि वाजपेयी, दिल्ली.

तद्भव, अंक 23. सम्पा. अखिलेश, लखनऊ.

जावीद आलम (1999), *इंडिया : लिविंग विद मॉडर्निटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

पार्थ चटर्जी (2010), 'ऑवर मॉडर्निटीज़', निवेदिता मेनन (सम्पा.), *एम्पायर ऐंड नेशन,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

वसुधा डालमिया (2006), 'पोयटिक्स, प्लेज़ ऐंड परफॉर्मेंसिज़', द *पॉलिटिक्स ऑव मॉडर्न इंडियन थियेटर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

जी.पी. देशपांडे (1995), 'इज़ देयर, ऑर शुड देयर बी, अ नैशनल थियेटर इन इंडिया', *सीगल थियेटर क्वार्टरली,* (सम्पा. अंजुम कात्याल), कोलकाता.

जावेद मलिक (2012), 'रिफैशनिंग मॉडर्निटी : हबीब तनवीर ऐंड हिज नया थियेटर', *थियेटर इंडिया,* वर्ष 2012, अंक 1.

---

[44] जावेद मलिक (2012), 'रिफैशनिंग मॉडर्निटी : हबीब तनवीर ऐंड हिज़ नया थियेटर', *थियेटर इंडिया,* वर्ष 2012, अंक 1.

दीपंकर गुप्त (2000), 'इंडियाज़ अनमॉडर्न मॉडर्निटी', रोमिला थापर (सम्पा.), *इंडिया : अनदर मिलेनियम,* पेंगुइन इंडिया, दिल्ली.

दिलीप पी. गाँवकर (1999), 'ऑल्टरनेटिव मॉडर्निटीज़', *पब्लिक कल्चर,* ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस.

युगरन हैबरमास (1997), द *अनफिनिश्ड प्रोजेक्ट ऑव मॉडर्निटी,* एम.पी.डी. एंट्रीव्ज़ और एस. बेनहबीब (सम्पा.), एमआईटी प्रेस.

सुदीप्त कविराज (2005), 'ऐन आउटलाइन ऑव रिविज़निस्ट थियरी ऑव मॉडर्निटी', आर्क.यूरोप.सोसियाल. XLVI.3.

आनंद लाल (2009), 'ए हिस्टोरियोग्राफी ऑव मॉडर्न इंडियन थियेटर', नंदी भाटिया (सम्पा.), *मॉडर्न इंडियन थियेटर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

बी. एरिन. मी (2008), *थियेटर ऑव रूट्स,* सीगल बुक्स, कोलकाता.

आशिस नंदी (1983), द *इंटीमेट इनेमी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

थियेटर इंडिया (जनवरी 2012), समिक बंदोपाध्याय (सम्पा.), अंक 1, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

थियेटर इंडिया (मई 2012), राजेंद्रनाथ (सम्पा.), अंक 5, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

http://sites.sdjzu.edu.cn/zhangpeizhong/what%20si%20enlightenment.pdf

http://rangwimarsh.blogspot.in/2010/10/blog-post.html